रविवारीय

आर्थिक आत्मनिर्भरता : सार्वजनिक जीवन की स्वतंत्रता की पहली शर्त

डॉ. मुकेश नायक

न दरिद्र सम दुख जग माहीं, संत मिलन सम सुख जग नाहीं.

गोस्वामी तुलसीदास की यह पंक्ति सदियों बाद भी इसलिए प्रासंगिक है, क्योंकि मनुष्य के जीवन में अभाव का अनुभव किसी दर्शन या आदर्श की परीक्षा से कम नहीं होता. विचारों की ऊंचाई अपनी जगह है, त्याग और तपस्या का अपना महत्व है, लेकिन जीवन की कठोर वास्तविकता यह है कि आर्थिक असुरक्षा धीरे-धीरे मनुष्य की स्वतंत्रता को घेरने लगती है. और जब व्यक्ति आर्थिक रूप से विवश होता है, तो केवल उसका निजी जीवन ही प्रभावित नहीं होता, उसके विचार, निर्णय और सार्वजनिक भूमिका भी उसकी छाया से अछूते नहीं रह पाते.

यही कारण है कि भारतीय सार्वजनिक जीवन में आर्थिक आत्मनिर्भरता पर गंभीरता से विचार करने का समय आ गया है. राजनीति और समाजसेवा को केवल त्याग, संघर्ष और विचारधारा के चश्मे से देखने की परंपरा निश्चित रूप से प्रेरणादायक है, लेकिन अधूरी भी है. किसी युवा के भीतर समाज के लिए कुछ करने की प्रबल इच्छा हो सकती है. वह राजनीति को करियर नहीं, मिशन मानकर सार्वजनिक जीवन में उतर सकता है.

प्रारंभिक वर्षों में परिवार उसका सहारा बनता है और आर्थिक प्रश्न बहुत बड़े दिखाई नहीं देते. लेकिन जीवन की घड़ी आगे बढ़ती है तो परिस्थितियां बदलती हैं. विवाह के बाद व्यक्ति अकेला नहीं रहता. उसके साथ एक परिवार की आकांक्षाएं, आवश्यकताएं और भविष्य जुड़ जाता है. बच्चों की शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास, सामाजिक दायित्व और बुजुर्ग माता-पिता की जिम्मेदारियां धीरे-धीरे सामने खड़ी होती जाती हैं. तब केवल यह कहना पर्याप्त नहीं रह जाता कि मैं समाज के लिए काम कर रहा हूं. परिवार को

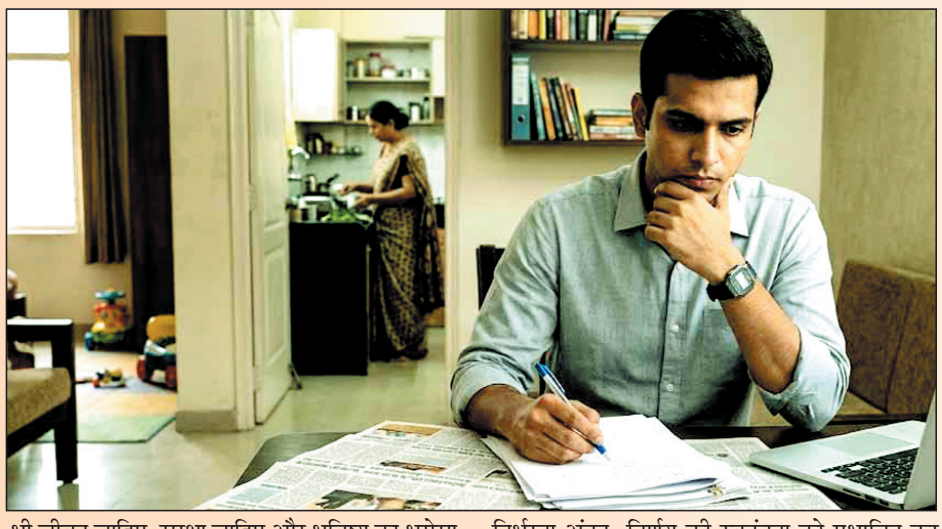

भी जीवन चाहिए, सुरक्षा चाहिए और भविष्य का भरोसा चाहिए. यहीं से सार्वजनिक जीवन की सबसे कठिन परीक्षा शुरू होती है. पूर्णकालिक राजनीति में लगे अनेक लोग इस प्रश्न से जूझते हैं कि उनकी नियमित आजीविका क्या है. राजनीति में सफलता का कोई निश्चित समय नहीं होता. चुनाव जीतना सुनिश्चित नहीं, पद मिलना सुनिश्चित नहीं और राजनीतिक परिस्थितियां स्थिर नहीं. वर्षों का संघर्ष कभी अवसर में बदलता है, कभी निराशा में. ऐसे में जिसने अपनी आर्थिक जमीन मजबूत नहीं की, उसके सामने एक समय ऐसा आ सकता है जब उसे अपने सिद्धांतों से अधिक अपने अस्तित्व की चिंता करनी पड़े. यह स्थिति केवल व्यक्तिगत संकट नहीं है. आर्थिक निर्भरता अंतत: निर्णय की स्वतंत्रता को प्रभावित कर सकती है. जिस व्यक्ति को अपने परिवार की आवश्यकताओं के लिए लगातार किसी दूसरे के सहारे की जरूरत हो, उसके लिए हर निर्णय पूरी तरह स्वतंत्र रहना आसान नहीं होता. आर्थिक विवशता कई बार मौन समझौतों को जन्म देती है और यही समझौते धीरे-धीरे सार्वजनिक जीवन की नैतिक शक्ति को कमजोर कर सकते हैं. इसलिए आर्थिक आत्मनिर्भरता को राजनीति या समाजसेवा से विमुखता मानना एक गंभीर भूल है. इसके विपरीत, आर्थिक स्वतंत्रता व्यक्ति को अधिक निर्भीक बनाती है. जिसके पास अपने जीवन की बुनियादी जरूरतों को पूरा करने का साधन है, वह सत्ता, संगठन, व्यक्ति या परिस्थिति के सामने अपनी बात अधिक स्वतंत्रता से रख सकता है. वह असहमति व्यक्त करने से पहले यह नहीं सोचता कि इसका उसके घर की रसोई पर क्या प्रभाव पड़ेगा.

सार्वजनिक जीवन में सबसे मूल्यवान पूंजी केवल पद नहीं, बल्कि विश्वसनीयता और स्वतंत्र निर्णय की क्षमता है. और इन दोनों की रक्षा के लिए आर्थिक आधार जरूरी है. इसका अर्थ यह कतई नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति को राजनीति के साथ कोई बड़ी नौकरी या व्यवसाय ही करना चाहिए. प्रश्न माध्यम का नहीं, आत्मनिर्भरता का है. कोई व्यक्ति अपनी शिक्षा के अनुरूप पेशा अपनाए, व्यवसाय करे, लेखन करे, खेती करे, परामर्श दे या अपनी किसी अन्य क्षमता को आजीविका का आधार बनाए लेकिन उसके पास कम से कम इतना आर्थिक आधार अवश्य होना चाहिए कि सार्वजनिक जीवन में असफलता आने पर उसका परिवार असुरक्षित न हो. युवाओं को इस विषय पर विशेष रूप से सावधान रहने की आवश्यकता है. राजनीति में प्रवेश करते समय केवल यह देखना पर्याप्त नहीं कि कौन-सा पद मिलेगा और कितनी जल्दी मिलेगा. यह भी देखना होगा कि यदि अपेक्षित पद नहीं मिला तो जीवन कैसे चलेगा. यदि चुनाव हार गए तो क्या करेंगे? यदि संगठन में अवसर नहीं मिला तो आजीविका का क्या आधार होगा? यदि वर्षों तक राजनीतिक सफलता नहीं मिली तो परिवार की जिम्मेदारियां कैसे पूरी होंगी?

इन प्रश्नों से बचना आदर्शवाद नहीं, बल्कि भविष्य के प्रति लापरवाही है. वास्तविक त्याग वही है जिसमें व्यक्ति अपनी जिम्मेदारियों को समझते हुए समाज के लिए काम करता है. परिवार को आर्थिक असुरक्षा में डाल देना और उसे त्याग का नाम देना न तो न्यायसंगत है और न ही दूरदर्शी. सार्वजनिक जीवन व्यक्ति से बहुत कुछ मांगता है, लेकिन परिवार के प्रति उसके दायित्व समाप्त नहीं कर देता. आज आवश्यकता ऐसे सार्वजनिक कार्यकर्ताओं की है जो विचारों में स्वतंत्र, चरित्र में दृढ़ और आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर हों. ऐसा व्यक्ति न बिकता है, न आसानी से झुकता है और न ही परिस्थितियों के दबाव में अपने विवेक को गिरवी रखने के लिए मजबूर होता है.

इसलिए युवाओं के लिए संदेश स्पष्ट है पहले अपने पैरों के नीचे जमीन मजबूत कीजिए, फिर उस जमीन पर विचारों का घर खड़ा कीजिए. आर्थिक आत्मनिर्भरता आदर्शों का विकल्प नहीं, उनके संरक्षण की शक्ति है. भूख और असुरक्षा से जूझता व्यक्ति लंबे समय तक मशाल नहीं उठा सकता. समाज को रोशनी देने के लिए उस हाथ को भी मजबूत होना चाहिए जो मशाल थामे हुए है. सार्वजनिक जीवन में स्वाभिमान की शुरुआत आर्थिक आत्मनिर्भरता से होती है. आर्थिक रूप से स्वतंत्र व्यक्ति ही विचारों से वास्तव में स्वतंत्र रह सकता है. यही किसी भी दीर्घकालीन, नैतिक और प्रभावशाली सार्वजनिक जीवन की पहली शर्त है.

क्लास by बड़े भाई

विपदाओं ! तुमको वंदन है

संदीप द्विवेदी
कवि/प्रेरक वक्ता/स्किल ट्रेनर

छोटे भाई, आप किसी मुश्किल से जूझ रहे हैं..? कुछ ऐसा चल रहा है जो आपको बिल्कुल पसंद नही है ? लेकिन एक बात समझ नही आ रही है, आप रो क्यों रहे हैं.. शायद आपको जीवन का एक रहस्य नही पता है.. चलिए आज इसी पर बात करते हैं.. इसके बाद संभव है कि आप खुश हो जाएँ और आपके चेहरे पर मुस्कराहट आ जाए..

छोटे भाई, जिस तरह हमारे शरीर को विकास करने के लिए समय पर खाना पीना चाहिए.. उसी तरह हमें जीवन के स्तर पर जीवन को उन्नत करने के लिए हमें कुछ मुश्किलों, कुछ चनौतियों का सागर पार करना ही पड़ता है क्योंकि अच्छे और बड़े उद्देश्य इन्ही के पीछे बसते हैं.. वो सीधे सीधे पहुँच में नही होते.. यदि वो सीधे पहुँच में हों तो वो बिल्कुल सामान्य हो जायेंगे.. आपको फिर और कुछ बड़ा देखना चाहिए..

इसे एक उदाहरण से समझते हैं, हमें यदि किसी पर्वत की चोंटी पर जाना हो तो हमारी मेहनत भी उतनी ऊंची करनी पड़ेगी, जितना ऊंचा पर्वत होगा.. तभी तो माउन्ट एवरेस्ट की चढ़ाई चढ़ने वालों को दुनिया जानती है और उनकी हिम्मत से प्रेरणा लेती है क्योंकि वह ऊँचाई कई मुश्किलों और चुनौतियों भरी होती है.. चढ़ते हुए कोई दुर्घटना भी हो सकती है..ठण्ड का उतार- चढाव कई बार जानलेवा हो जाता है.. बात समझ गये होंगे आप..

जो मुश्किल आपके सामने है उसका पूरी हिम्मत से सामना करें.. इसका पीछे बड़ा अवसर या कोई बड़ी सीख छिपी हो सकती है.. यदि आपको नही दिख रही है तो कोशिश करें.. जरुर कुछ न कुछ बेहतर होगा..

छोटे भाई, हमेशा याद रखिये कि जो भी दुनिया में बड़ा होगा.. वो कई चुनौतियों का बना होगा.. जिसमे हिम्मत होगी उससे भिड़ने की, वही उसके साथ खड़ा होगा.. धन्यवाद

नेता दल बदले तो मत का क्या?

डॉ. अंकिता त्रिपाठी

लोकतंत्र में मतदान केवल एक राजनीतिक प्रक्रिया नहीं, बल्कि नागरिक और उसके निर्वाचित प्रतिनिधि के बीच विश्वास का सबसे महत्वपूर्ण क्षण है. मतदाता अपना मत देकर किसी व्यक्ति को केवल एक पद नहीं सौंपता, बल्कि उसे अपनी आवाज, अपनी अपेक्षाएँ और अपने क्षेत्र के प्रतिनिधित्व की जिम्मेदारी देता है. वह प्रतिनिधि को संसद या विधानसभा तक भेजते समय यह विश्वास करता है कि वह उसके हितों और लोकतांत्रिक आकांक्षाओं को सदन में व्यक्त करेगा. लेकिन चुनाव के बाद यदि वही प्रतिनिधि अपना राजनीतिक दल बदल ले, तो एक स्वाभाविक और गंभीर प्रश्न उठता है-दल बदला तो मत का क्या हुआ?

यह प्रश्न किसी व्यक्ति विशेष या किसी राजनीतिक दल के विरुद्ध नहीं है. यह लोकतंत्र की उस बुनियादी अवधारणा से जुड़ा प्रश्न है जिसमें जनादेश का वास्तविक अर्थ निहित है. मतदाता जब किसी उम्मीदवार को वोट देता है, तो क्या वह केवल उस व्यक्ति को चुनता है, या उसके साथ जुड़े राजनीतिक दल, विचारधारा, घोषणापत्र और नीतिगत दृष्टिकोण को भी अपना समर्थन देता है? भारतीय संसदीय व्यवस्था में इसका उत्तर हर चुनाव और हर मतदाता के लिए समान नहीं हो सकता. कोई मतदाता उम्मीदवार के व्यक्तिगत व्यक्तित्व को प्राथमिकता दे सकता है, तो कोई राजनीतिक दल और उसकी विचारधारा को. अधिकांश मामलों में दोनों का सम्मिलित प्रभाव होता है. इसलिए निर्वाचित प्रतिनिधि के दल परिवर्तन का प्रश्न केवल व्यक्ति की राजनीतिक स्वतंत्रता का प्रश्न नहीं, बल्कि मतदाता के विश्वास और जनादेश की निरंतरता का प्रश्न भी है. जब वह व्यक्ति किसी दल के उम्मीदवार के रूप में चुनाव जीतता है, तब उसकी व्यक्तिगत राजनीतिक स्वतंत्रता और उसके ऊपर मौजूद मतदाता के विश्वास के बीच एक संवेदनशील संतुलन भी पैदा होता है. यही वह बिंदु है जहाँ लोकतांत्रिक नैतिकता और कानूनी व्यवस्था एक-दूसरे से जुड़ती हैं.

भारत के संविधान में दल-बदल को नियंत्रित करने के लिए प्रावधान किए गए हैं. इनका उद्देश्य निर्वाचित प्रतिनिधियों के बार-बार राजनीतिक पाला बदलने से उत्पन्न अस्थिरता को रोकना और लोकतांत्रिक व्यवस्था में राजनीतिक निष्ठा को कुछ सीमा तक सुनिश्चित करना है. लेकिन समय के साथ राजनीति का स्वरूप बदला है. गठबंधन राजनीति, राजनीतिक पुनर्संयोजन और विभिन्न दलों के बीच नेताओं के आवागमन ने इस प्रश्न को और जटिल बनाया है. इसलिए आज आवश्यकता केवल यह पूछने की नहीं है कि दल-बदल कानूनी है या नहीं? बल्कि यह भी पूछने की है कि दल बदलने के बाद मतदाता के जनादेश का क्या होता है?

मान लीजिए किसी संसदीय क्षेत्र के नागरिकों ने किसी उम्मीदवार को एक निश्चित राजनीतिक दल के टिकट पर चुना. उस चुनाव में उम्मीदवार के व्यक्तिगत गुणों के साथ-साथ उस दल की विचारधारा, नेतृत्व और घोषणापत्र भी मतदाताओं के निर्णय का हिस्सा थे. चुनाव जीतने के बाद वही प्रतिनिधि यदि उस दल को छोड़कर किसी दूसरे दल में चला जाता है, तो प्रतिनिधि तो वही रहता है, लेकिन वह राजनीतिक पहचान बदल जाती है जिसके साथ बड़ी संख्या में मतदाताओं ने अपना निर्णय जोड़ा था. यहीं से लोकतांत्रिक विश्वास का प्रश्न जन्म लेता है. क्या मतदाता ने केवल व्यक्ति को चुना था, या व्यक्ति के साथ एक राजनीतिक विकल्प को भी चुना था?

यदि उसने केवल व्यक्ति को चुना था, तो दल परिवर्तन को उसकी व्यक्तिगत राजनीतिक स्वतंत्रता माना जा सकता है. यही कारण है कि इस विषय को केवल राजनीतिक दलों की सुविधा या नेताओं की व्यक्तिगत स्वतंत्रता के आधार पर नहीं देखा जा सकता. इसमें मतदाता के विश्वास को भी समान महत्व देना होगा.

यहाँ एक और प्रश्न महत्वपूर्ण है- क्या किसी प्रतिनिधि के दल बदलने पर मतदाता की कोई भूमिका हो सकती है? आज सामान्य स्थिति यह है कि मतदाता अगला चुनाव आने तक प्रतीक्षा करता है. वह अगले चुनाव में उस प्रतिनिधि को स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है. यह लोकतांत्रिक व्यवस्था का मूल उपाय है. प्रत्येक संसदीय क्षेत्र के सत्यापित नागरिकों के लिए एक स्वतंत्र और सुरक्षित डिजिटल मंच हो, जहाँ किसी निर्वाचित प्रतिनिधि के महत्वपूर्ण राजनीतिक परिवर्तन की स्थिति में नागरिक अपनी राय व्यक्त कर सकें. इसका उद्देश्य तत्काल प्रतिनिधि को हटाना या पद समाप्त करना नहीं, बल्कि जनादेश की स्थिति को समझना और नागरिक की आवाज को संस्थागत रूप देना हो सकता है. हर राजनीतिक परिवर्तन के बाद तत्काल पुन:चुनाव या बाध्यकारी जनमत की व्यवस्था बना देना लोकतांत्रिक स्थिरता के लिए उचित नहीं होगा. इससे बार-बार चुनाव, राजनीतिक अस्थिरता और सार्वजनिक संसाधनों पर अनावश्यक भार पड़ सकता है. इसलिए किसी संभावित डिजिटल जनमत व्यवस्था को पहले चरण में परामर्शात्मक और जवाबदेही आधारित रखना अधिक तार्किक होगा.

आज सोशल मीडिया पर नेता जनता से संवाद करते हैं, लेकिन सोशल मीडिया लोकतांत्रिक संस्थागत संवाद का विकल्प नहीं है. वहाँ सूचना और विचारों के साथ अफवाह, प्रचार, कृत्रिम जनमत और राजनीतिक ध्रुवीकरण भी तेजी से फैल सकता है. इसलिए डिजिटल चौपाल को सोशल मीडिया से अलग एक आधिकारिक, प्रमाणित और पारदर्शी नागरिक मंच के रूप में विकसित करने की आवश्यकता होगी. यहाँ नागरिक की पहचान सुरक्षित रूप से सत्यापित हो सकती है, लेकिन उसकी राजनीतिक राय की गोपनीयता बनी रहनी चाहिए. यदि ऐसी व्यवस्था विकसित होती है तो उसका लाभ केवल दल-बदल के प्रश्न तक सीमित नहीं रहेगा. यह सांसद और मतदाता के बीच पूरे पाँच वर्ष के संबंध को बदल सकती है.

मैं भारत का नागरिक हूँ-भाग 4

भारत की लोकतांत्रिक यात्रा ग्रामसभा और चौपाल से शुरू होकर संसद तक पहुँची है. अब तकनीक हमें एक नया अवसर दे रही है—संसद और चौपाल के बीच सीधा डिजिटल संवाद स्थापित करने का. कल की चौपाल में नागरिक सामने बैठकर अपनी बात कहता था. आज की डिजिटल चौपाल में वह सुरक्षित डिजिटल माध्यम से अपनी राय दर्ज कर सकता है. कल पंच या स्थानीय प्रतिनिधि जनता के बीच बैठकर निर्णय सुनते थे. आज निर्वाचित प्रतिनिधि अपने संसदीय क्षेत्र की जनभावना को डिजिटल माध्यम से समझ सकता है. इसलिए लोकतंत्र का अगला प्रश्न केवल यह नहीं होना चाहिए कि किसने चुनाव जीता? बल्कि यह भी होना चाहिए- जिसे जनता ने चुना, क्या वह जनता के विश्वास के साथ भी खड़ा है? और यदि इस प्रश्न का उत्तर खोजने के लिए आधुनिक तकनीक नागरिक और प्रतिनिधि के बीच एक नया संवाद स्थापित कर सकती है, तो उस संभावना पर गंभीरता से विचार करना समय की आवश्यकता है. क्योंकि मतदाता का वोट पाँच वर्ष के लिए दिया गया कोई खाली अधिकार-पत्र नहीं है. वह पाँच वर्ष के विश्वास का प्रतीक है. और लोकतंत्र की असली मजबूती तभी होगी, जब प्रतिनिधि की राजनीतिक स्वतंत्रता और मतदाता के लोकतांत्रिक विश्वास—दोनों का सम्मान साथ-साथ हो.

व्यंग्य

वाह! वर्षा ऋतु, वाह!

रवि उपाध्याय
(लेखक व्यंगकार और राजनीतिक समीक्षक हैं)

ऐसा मानना है कि सब ऋतुओं में यदि कोई सर्वश्रेष्ठ ऋतु है तो वह केवल वन और ऑनली वन वर्षा ऋतु ही है। इसीलिए इसे ऋतुओं की रानी कहा जाता है. एक गीत में पिया के विरह से परेशान नायिका बरखा से गुहार लगा रही है बरखा रानी जरा जम कर बरसो इतना बरसो कि मेरा दिलबर लौट कर न जा पाए, झूम कर बरसो बरखा रानी, ज़रा जम के बरसो मेरा दिलबर जा,ना पाए, झूम कर बरसो। इस मौसम को बरखा बहार भी कहा गया है. इस मौसम के बाद ही बहार आती है. वर्षा ऋतु में होने वाली बादलों की गड़गड़ाहट से दु:खी कान्वेंट में एजुकेटेड नायिका अंग्रेजी गीत में क्लाउडस से विनती कर रही है, स्लोली स्लोली कम्स ओ क्लाउड स्लोली स्लोली गो माय डार्लिंग इस स्लिपिंग मेक अ नॉइ? नो.ये वही एक मात्र मौसम है जिसमे देश की सड़कें जनता जनार्दन को सड़क पर कदम दर कदम संभल संभल कर चलना और संतुलन बनाना सिखाती है. यही आदत उन्हें जीवन में काफी कामयाबी दिलाने में मददगार साबित होतीं हैं. इस तरह की सड़कें बनवाने वालों को निश्चय ही पदम् पुरस्कार दिया जाना चाहिए .

बच्चों को सबसे ज्यादा वर्षा ऋतु ही पसंद आती है। इस ऋतु का असली मज़ा तो जेन जी के पहले वाली जनरेशन यानि कि जेन मिलेनियर्स ,जेन एक्स या बेबी बुमर्स ने ही उठाया है. जब वे बरखा ऋतु में जगह जगह भरे पोखरों में कूद कूद कर छई छप्पा छई खेला करते थे. और वे तब पोखरों और बहते हुए पानी में कागज की नावें दौड़ाया करते थे. अब वह बात कहाँ ? अब तो सरकारी दफ्तरों में बाबू कागज की नाव दौड़ाया करते हैं और अधिकारी चप्पू चलाया करते हैं. अब तो वाहन चालक राहगीरों से बिना मौसम होली खेला करते हैं. विभागों द्वारा अब बजट रूपी मैदान में योजनाओं के घोड़े दौड़ाए जाते हैं. इस रेस में ठेकेदारों द्वारा उन पर रेसकोर्स के घोड़ों की तरह दांव लगाए जाते हैं. शहरों में अब बच्चे छई छप्पा छई नहीं करते. अब बड़े बड़े लोग छई छप्पा छई खेलते हैं. यहाँ दो टीमें होती हैं एक तरफ ठेकेदार होते है तो दूसरी टीम में अधिकारी और नेता होते हैं. दोनों मिल कर इस मौसम में दनादन गोल करते हैं. इसका प्रिव्यू वर्षा ऋतु के पदार्पण से दो तीन महीने पहले से शुरू हो जाता है. राज्यों में सड़कों की दुर्दशा देख कर नेताओं और अफसरों का दिल हूम हूम करने लगता है.

वर्षा ऋतु के दो -तीन महीने पहले राज्य की कल्याणकारी सरकारें शहरों में धड़ा धड़ सड़कें बनवाती हैं ताकि बरसात को इनकी खाल उधेड़ने का काम मिल जाए. जब तक ये बन कर तैयार होतीं हैं तब तक वर्षा ऋतु इनके चरण पखारने आ जाती हैं और परोपकारी-पाप मोचनी वर्षा ऋतु, कल्याणकारी सरकार और ठेकेदारों के सब पाप धो देतीं है. सड़कों पर जगह जगह पड़े गड्ढे सरकार और अधिकारीयों की कहानी कहते दीखते हैं. यह गड्ढे आम पब्लिक के लिए शिक्षा के किसी संस्थान से कम नहीं होते हैं. यह गड्ढे जनता को एकाग्रता या कसन्ट्रेशन सिखाते हैं कि दुनिया में कदम कदम पर गड्ढे हैं संभल संभल कर चलना. सोच समझ कर कदम उठाने से ही मंजिल को सफलता पूर्वक हासिल किया जा सकता है.सड़कें बनने,बनवाने और उन पर गड्ढे होने का यह क्रम चलता रहता है. चलता रहेगा. ठीक वैसे ही जैसे रातें होतीं हैं दिन होते हैं.यही जीवन का क्रम है. पृथ्वी पर मानव जीवन आता रहेगा. सड़कों पर गड्ढे बनते रहेंगे, भराते रहेंगे. ये सभी एक सिस्टम के अंग है.

सोचिए यदि ऐसी सड़कें बना दीं जाए जो कभी न टूटे, उन पर कभी न गड्ढे हों वे अजय और अमर हों ये कैसे संभव है. ऐसा होना प्रकृति के उस नियम के भी विपरीत है, जो यह स्थापित करता है कि यहाँ जो शाश्वत है वही नश्वर है. जो वस्तु बनती है उसका नष्ट होना प्रकृति के नियम के अनुसार अवश्य संभावी है.ऐसा ही सिद्धांत सड़कों पर भी लागू है. यदि सड़कें दीर्घायु वाली बनीं तो लाखों मजदूर, ठेकेदार अधिकारी उद्योग भूखों नहीं मर जाएंगे.वर्षा ऋतु में सड़कों के नष्ट होने से लोगों को रोजगार मिलता है. सीमेंट,कोलतार, गिट्टी,पत्थर उद्योगों में रोजगार मिलता रहता है. इस क्रम में हमारे देश की अर्थव्यवस्था भी मजबूत होती है. मेरा तो सुझाव है कि यदि कहीं गलती से टिकाऊ सड़कें बन भी जाएं तो उनमें सरकार को अपनी तरफ से गड्ढे करवाना चाहिए.इन गड्ढों में जल भराव से भू गर्भ जल स्तर बढ़ाने में भी मदद मिलेगा. इस नवाचार से भी लोगों को रोजगार मिलेगा,ठेकेदारों को काम मिलेगा, अधिकारीयों और नेताओं को कमीशन मिलेगा और मजदूरों को दिहाड़ी भी मिलेगी.इस व्यवस्था से उनके घरों में सम्पन्नता आएगी. चुनाव लड़ने में नेताओं को धन की कमी की दिक्कत नहीं होगी और रही बात डेमोक्रेसी की तो वह भी और अधिक मजबूत होगी.

विडम्बनाओं के दौर में चौधराहट बनी रहे का ऐलान करते लोग

मनीष वैद्य

पुस्तक चर्चा

एक तरफ जहाँ हमारे समाज और समय में विडम्बनाओं ने ऐसा कुचक्र रच दिया कि आम आदमी के लिए जीना मुश्किल होता जा रहा है. वसुधैव कुटुम्बकम् का सन्देश देने वाले देश में रहने वाले हो लोग इतने एकाकी और मतलबपरस्त होने लगे हैं कि अपने थोड़े से फायदे के लिए किसी दूसरे की गर्दन काटने-कटवाने तक से गुरेज नहीं करते. हमारी पूरी व्यवस्था ही धीरे-धीरे इसकी गिरफ्त में बुरी तरह फँसती जा रही है. ऐसे समय में कोई भी व्यंग्यकार अपनी तरह से अपने इर्द-गिर्द को देखते-समझते हुए खामोश नहीं रह सकता. वह अपनी व्यंग्य रचनाओं के जरिए समाज की विडम्बनाओं को कागज पर दर्ज करे बिना कैसे रह सकता है.

भावेश कानूनगो के सद्य:प्रकाशित व्यंग्य संग्रह चौधराहट बनी रहे में हमारे आसपास की ऐसी ही तल्ख सच्चाइयों को रोचक अंदाज में इस तरह दर्ज किया गया है कि वे व्यष्टि से समष्टि तक पहुँच जाते हैं. इन्हें पढ़ते हुए इनका हास्य हमें गुदगुदाता नहीं है. भीतर तक उद्वेलित कर जाता है, कोलाहल मचाता है, हमें सोचने पर मजबूर करता है. व्यंग्य या और बड़े दायरे में बात करें तो साहित्य का यही अभीष्ट तो होता है. भावेश लम्बे समय से लिखते रहे हैं तो गद्य को साध पाते हैं. चौधराहट बनी रहे शीर्षक के व्यंग्य में वे ऐसे तथाकथित एकोहम, द्वितीयोनास्ति वाले स्वयंभू चौधरियों की बात करते हैं, जो इस व्यवस्था की खामियों और समाज की लापरवाही या चुप्पी के चलते खुदमुख्त्यार बन चुके हैं और अपनी सत्ता अपने तई चलाना चाहते हैं. अच्छे लोगों की चुप इन जैसे लोगों के होंसले बड़ा देती है और ये चौधरीपन धीरे-धीरे इनकी तासीर में कुछ इस तरह घुल-मिल जाता है कि वे सदैव अपनी इस तथाकथित चौधराहट को येन-केन प्रकारेण बनाए रखना चाहते हैं. इसके लिए वे दिन-रात तिकड़म या छल-बल से चालें चलते रहते हैं. यह मानवीय प्रवृति की उस आदिम इच्छा का परिचायक है, जब आदमी ने आदमियों पर अपनी सल्तनत कायम करने के बारे में सोचा होगा या शुरू किया होगा. तमाम तानाशाह और सरके हुए सेनापतियों के जीवन में हम यह सब देख-समझ सकते हैं. गाली और आत्मसंयम की परीक्षा में वे लिखते हैं-गाली हमारे बचपन से दिए जाने वाले पारम्परिक सीख-संस्कारों की घुट्टी में शामिल हैं. यह व्यंग्य हमें घर-गली मोहल्ले की बातें करते हुए वैश्विक पटल तक ले जाता है, जहाँ वे इसमें ट्रम्प जैसे नेता को अनायास शामिल कर देते हैं.

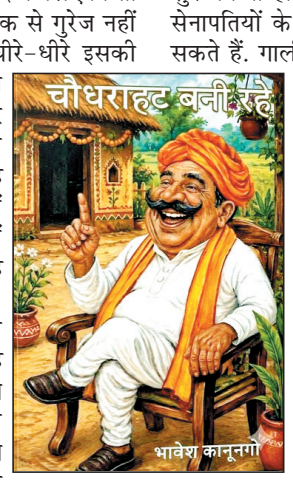

ऐसे ही चाय का चमत्कार, सेल्फी विथ संस्कार, शिकायत करना साँस लेने जैसा, अ..सुर गायक, लाल बुझक्क?, मोबाइल का यक्ष प्रश्न शादी से पहले का रायता, आनंद वसूली और बत्ती देना जैसे व्यंग्य में ऐसी कई बातें लिखते हैं कि पाठक पड़ते हुए चौंकता है, अपने भीतर झाँकता है, ऊल-चूल होता है. इसे मप्र साहित्य अकादमी ने पांडुलिपि पुरस्कार योजना में चयनित किया है. व्यंग्य की भाषा चुटीली, प्रभावोत्पादक, प्रवाही और आमफहम होने से इनके कहन का सीधा असर पाठक के भीतर होता है. इस व्यंग्य संग्रह के करिए चौधराहट की प्रवृत्ति उजागर होती है तो हमारे आज के दौर के तमाम ऐसे चौधरी आँखों के सामने आ जाते हैं जो अपने ही दड़बों में खुश हैं और इसे किसी भी कीमत पर बनाए रखना चाहते हैं.

इमोजी का दौर

प्रियंका श्रीवास्तव

इमोजी धीरे-धीरे और चुपके से हमारी रोजमर्रा की जिंदगी में शामिल हो गए हैं. यह भले ही मामूली या बचकाना लग सकता है, लेकिन यह निश्चित रूप से कोई गुजरता हुआ फैशन नहीं है. इसने एक क्लिक के बटन पर हमारी सूक्ष्म भावनाओं को व्यक्त करने के लिए आइकनों की एक पूरी सेना को खोल दिया है.

जापान में जन्मे इमोजी ने 2010 के यूनिकोड मानक में गूगल और एप्पल द्वारा इसे शामिल किए जाने के बाद लोकप्रिय संस्कृति में धीरे-धीरे अपनी जगह बनाई. ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी ने 2015 में इसे वर्ष का शब्द घोषित किया. और जैसा कि कहावत है, 'बाकी इतिहास है!' उपयोगकर्ता का फोन अब इमोजी के एक ऐसे संग्रह से लैस है, जो 'हैरान', 'नाराज' और इनके बीच की हर भावना को व्यक्त करने में सक्षम है. इसमें 'बहुत खुश', 'घबराहट', 'शर्मिंदगी' से लेकर 'मुस्कान भरी झिझक' जैसी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए विशेष रूप से बनाए गए इमोजी हैं, जो खोजे जाने के लिए तैयार हैं. यह संग्रह इतना विशाल है कि आप खुद को मनोरंजित भाव के साथ लगातार स्क्रॉल करते हुए पाएंगे. यह साधारण डिजिटल बातचीत में भी नाटकीयता जोड़ देता है. परिवार के साथ बातचीत में 'हल्की मुस्कान', 'बड़ी मुस्कान', 'संकोची', 'शर्मीली' या किसी दुखभरी कहानी पर 'आंसू भरी' भावनाओं वाले इमोजी अपने-अपने समय पर अपनी भूमिका निभाते हैं.

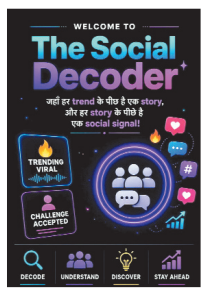

दोस्तों के साथ बातचीत की बात करें तो यह मनोरंजन का पूरा मैदान बन जाता है. आप 'मजाकिया', 'अजीब', 'शरारती मुस्कान' जैसे इमोजी का इस्तेमाल कर सकते हैं, जो बातचीत में मजेदार और अनोखा तत्व जोड़ देते हैं. 'जुड़े हुए हाथ' वाला इमोजी और सिर पर प्रभामंडल वाला इमोजी अलग-अलग वर्गों और पीढ़ियों में बार-बार इस्तेमाल किए जाने वाले इमोजी हैं. इनके अर्थ समझने में थोड़ा अंतर हो सकता है, लेकिन फिर भी ये लोकप्रियता में काफी आगे हैं. मजेदार बात यह है कि इमोजी का एक साथी भी है, जिसे जीआईएफ कहा जाता है. दोनों मोबाइल के अनुकूल हैं और बातचीत में प्रभाव और हास्य जोड़ते हैं. स्मार्टफोन के आने के साथ इनके इस्तेमाल में तेजी से बढ़ोतरी हुई है. इनका आकर्षक प्रारूप अलग-अलग प्लेटफॉर्म पर उपयोगकर्ताओं को जोड़े रखता है. ये बेहद रचनात्मक आइकन आसानी से ध्यान आकर्षित करते हैं और किसी भी बातचीत को अधिक रोचक बना सकते हैं. यह भले ही बहुत आम हो गया हो या जरूरत से ज्यादा इस्तेमाल किया जाने लगा हो, फिर भी यह यहां लंबे समय तक रहने वाला है, किसी अन्य गुजरते चलन या फैशन की तरह नहीं.